

पंचम् अध्याय  
मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामेतर जीवन का यथार्थ

## मार्कण्डेय की कहानियों में ग्रामेतर जीवन का यथार्थ

मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन की कहानियों के संदर्भ में उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियों को भी समझना आवश्यक है, क्योंकि इससे उनकी समग्र कहानियों के मूल स्वर की पहचान के साथ उनकी कहानी संबंधी यथार्थ-दृष्टि भी स्पष्ट रूप में आलोकित होती है। यहाँ निम्न उपशीर्षकों के अंतर्गत इसका विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है।

### 5.1 ग्राम-ग्रामेतर का संदर्भ

मार्कण्डेय की पहचान मूल रूप से एक ग्राम कथाकार की है। ग्रामीण जीवन और यथार्थ से उनकी सम्पृक्ति बौद्धिक स्तर पर नहीं है, बल्कि यह उनके लिए एक ऐसा आग्रह रहा है, जो उनके सम्पूर्ण जीवन के साथ घुला-मिला है। यहाँ यह कहने की जरूरत नहीं है कि उनके उक्त आग्रह के कारण ही उनका कहानी-लेखन स्वतःस्फूर्त ग्रामीण जीवन की ओर प्रवृत्त हो जाता है। वैसे, इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि उनके कहानी-लेखन के आस-पास अर्थात् 'नई कहानी' के समय कहानी साहित्य के समक्ष एक ज्वलंत प्रश्न उभर कर आता है कि, शहर या गाँव के जीवन की कहानियों में किसे महत्त्वपूर्ण कहानी का दर्जा दिया जाए। जिससे एक बहस का जन्म होता है। यहाँ नीचे उद्धृत दो मंतव्यों को उक्त तथ्य के प्रमाण के रूप में लक्ष्य किया जा सकता है। इस संदर्भ में पहले, कहानीकार-आलोचक कमलेश्वर का निम्न मंतव्य पढ़ा जा सकता है –“नयी कहानी की यात्रा का यह एक दुखद अध्याय था कि ग्रामांचलों पर लिखने वाले लेखकों ने कहानी के नयेपन को अपने-अपने गाँवों की हदों में कैद कर लेना चाहा और इसमें एकाध आलोचकों ने भी हाथ बँटाया... जबकि ग्रामीण जीवन की स्थितियों पर लिखी जाने वाली कहानियों में वही फार्मूलाबद्धता थी जो कि पिछली कहानी में थी।”<sup>1</sup> इसी कड़ी में, कहानीकार आलोचक शिवप्रसाद सिंह का निम्न कथन भी दृष्टव्य है—“ 'शहरी कथा' शब्द के प्रयोग की लाचारी इसलिए है कि यह शब्द शहर के कथाकारों ने उस 'अछूत साहित्य' से अपने को भिन्न करने के लिए प्रयुक्त करना शुरू किया है, जिसे ग्राम कथा कहा जाता है।”<sup>2</sup> इन दोनों मंतव्यों में दो छोरों का जिक्र मिलता है, साथ ही साथ यहाँ किसी एक छोर को किनारा करते हुए दूसरे छोर पर पहुँच जाने की जल्दबाजी देखी जाती है। जबकि, इन दोनों में सामंजस्य बिठाने की आवश्यकता मालूम पड़ती है। इसी कारण मार्कण्डेय जैसे कहानीकारों के लिए ग्राम-शहर आदि कथानकों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है, किसी

भी कहानी में ईमानदारी से चित्रित किया गया नवीन जीवन-संदर्भ। वे जीवन सदर्थ की बात बार-बार दुहराते हैं—“... इसलिए नवीन जीवन संदर्भों को कथा से अलग करके देखना एक भूल है। एक तो इसलिए कि जीवन-संदर्भ कथा की आधार-भूमि हैं, वेसे ही, जैसे किसी चित्र के लिए तूलिका, रंग और कैनवस।”<sup>3</sup>

गौरतलब है कि मार्कण्डेय के लिए ग्राम-शहर आदि विभाजन कभी मायने नहीं रहा है। इसी कारण ग्रामीण जीवन के साथ शहरी मध्यवर्गीय जीवन स्थितियाँ भी उनकी कहानियों का विषय उनके प्रारंभिक लेखन-काल से ही बनती हैं। जिसका स्पष्ट प्रमाण है उनका प्रथम कहानी-संग्रह पान-फूल (1954)। जिसमें एक साथ ग्राम-ग्रामेतर जीवन का अभिव्यंजन हुआ है। यहाँ, उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियों तथा उनमें व्यक्त नगरीय मध्यवर्ग की जीवन स्थितियों को विश्लेषण का आधार बनाने के पीछे निम्नलिखित तर्क हैं। पहला, उनके कहानी के मूल पक्ष को समझना। दूसरा, उनके कहानीकार के समग्र रूप को उद्घाटित करना। तीसरा, उनकी ग्रामेतर कहानियों को एक सिरे से नकार देने की जल्दबाजी की मानसिकता को उजागर करना। उदाहरण के रूप में, उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियों के संबंध में दिया गया निम्न मंतव्य देखा जा सकता है—“‘वासवी की माँ’, ‘रेखाएँ’, ‘कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए’, ‘एक दिन की डायरी’, ‘मिस शांता’, ‘अगली कहानी’, ‘सतह की बातें’, ‘माही’, ‘सूर्या’, ‘तारों का गुच्छा’, ‘आदर्शों का नायक’, ‘पक्षाघात’, ‘आवाज’, ‘आँखें’ और ‘प्रियासैनी’ जैसी कहानियों पर बातचीत करना एक जनपक्षधर कहानीकार की टाँग खींचना ही होगा।”<sup>4</sup> जिससे स्पष्ट रूप में एक आलोचक की जल्दबाजी जाहिर होती है कि वह इन कहानियों पर ठहरकर बातचीत करना नहीं चाहता है। जबकि वास्तविकता यह है कि एक कमजोर कहानी भी अपने मूल्यांकन की माँग करती है।

जैसा कि, मार्कण्डेय अपनी पहचान ग्रामीण जीवन के एक कथाकार की बनाने की ओर अग्रसर होते हैं, उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ सम्यक विवेचन-विश्लेषण से छूटती जाती हैं। मधुरेश जैसे समर्थ आलोचक भी उनकी ग्रामेतर कहानियों की चर्चा करते हुए उसके दो खाने बनाते हैं। पहले में, वे उन कहानियों को शामिल करते हैं, जिसमें उन्हें प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय के सरोकार व्यक्त हुए हैं। जबकि दूसरे खाने में, वे मार्कण्डेय की उन कहानियों को रखते हैं जिनमें उनके अनुसार उनके सरोकार व्यक्त नहीं हुए हैं तथा जो यौन-समस्याओं का चित्रण भर कर चूक जाती हैं—“ग्रामेतर संदर्भों वाली मार्कण्डेय की कहानियों के भी दो स्पष्ट वर्ग हैं। एक वर्ग में वे

कहानियों आती हैं जिसमें एक लेखक की हैसियत से अपने सरोकारों को उन्होंने ग्राम कथानकों से भिन्न शहरी जीवन से जोड़ा है... दूसरे वर्ग में उनकी वे कहानियाँ आती हैं जो उन्होंने यौन समस्याओं और जीवन को आधार बनाकर लिखी हैं और जो प्रायः सबकी सब माही में संकलित हैं।<sup>5</sup> स्पष्ट है कि यदि कहानियों के खाने बनाने के बजाय उनमें चित्रित जीवन को समग्रता में पर्यवेक्षित किया जाए तो उनकी ग्रामतेर कहानियों में उद्घाटित मध्यवर्गीय जीवन-बोध की विसंगतियों को भली-भांति समझा जा सकता है। साथ-ही साथ, उनकी ग्राम-ग्रामतेर कहानियों की संगति की भी पहचान की जा सकती है।

उल्लेखनीय है कि उनकी ग्रामतेर जीवन की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग तथा उनकी जीवन-स्थितियों में शामिल पहलुओं को दिखलाने की प्रचेष्टा मिलती है। यद्यपि उनके 'माही' (1962) संग्रह की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन-बोध का एक पहलू-यौन-कुंठा का विशेषकर जिक्र होता है तथापि उनकी अन्य कहानियों में मध्य वर्ग की सीमा तथा शक्ति का निदर्शन मिलता है। वैसे भी, मार्कण्डेय की कहानीकार के रूप में उनकी यथार्थवादी सोच ही उन्हें उनके प्रारंभिक लेखन से ग्राम-ग्रामतेर की कहानियों के सृजन की ओर उन्मुख करती है। जैसा कि पूर्वोक्त है कि उनकी यथार्थवादी सोच, एकांगिता की जगह समग्रता-संश्लिष्टता को महत्त्व प्रदान करती है। इस कारण भी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन को समग्रता में उद्घाटित करने हेतु उनका कहानीकार ग्राम-ग्रामतेर जीवन-संदर्भों को उकेरने का प्रयास करता है। इस तरह देखने पर उनकी ग्राम-ग्रामतेर कहानियों की संगति भी मिलती है। उनकी यही यथार्थवादी सोच एक ओर ग्रामीण सर्वहारा जीवन का संश्लिष्ट यथार्थ प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर स्वातंत्र्योत्तर औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप नगरीकृत होते समाज तथा उसमें तेजी से उभरते मध्यवर्गीय जीवन की स्थितियों को रेखांकित करती है।

## 5.2 स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य और मध्यवर्ग

देखा जाए तो भारतीय समाज अनेक अंतर्विरोधों का पुँज रहा है। इन अंतर्विरोधों को पूँजीवाद के विकास ने और भी मुखर किया है। सर्वविदित है कि, पूँजीवादी समाज में उद्योगों और पूँजी पर पूँजीपतियों का एकाधिपत्य क्रमशः होता जाता है। यह स्थिति भारत में भी देखने को मिलती है। कहानीकार प्रेमचंद की पैनी नजर पूँजीवादी ताकतों के फैलते संजाल को अपने दौर में बखूबी देखती है। इसी कारण वे अपनी पत्रिका जागरण (6 नवंबर, 1933) के संपादकीय-

‘अंधा पूँजीवाद’ में उक्त तथ्य की ओर संकेत करते हुए जनता और शासन की निगाह इस ओर आकर्षित करने का प्रयास करते हैं—“जिधर देखिए उधर पूँजीपतियों की घुड़दौड़ मची हुयी है। किसानों की खेती उजड़ जाए उनकी बला से... यह समुदाय भी उस किसान की गर्दन काट रहा है जिसका पसीना उसी की सेवा में पानी की तरह बह रहा है।”<sup>6</sup> जिसका कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता पूर्व ही पूँजीपति अपने सम्प्रसार हेतु सचेष्ट हो जाते हैं।

भारत में बड़ी पूँजी छोटे कुटीर उद्योगों की ठीक उसी प्रकार लीलने लगती है जिस प्रकार समुद्र की बड़ी मछली छोटी मछलियों को निगलती है। बड़ी और विकसित पूँजी बाजार पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने की प्रक्रिया में लघु-कुटीर उद्योगों का अस्तित्व समाप्त करना आरंभ कर देती है। ब्रिटिश नीति भी इसमें भरपूर सहयोग देती है। रामाज्ञा शशिधर अपने एक लेख में लिखते हैं—“यूरोप में पूँजीवाद के विकास के साथ उद्योग-धंधों का विकास और बड़े फार्मों का विस्तार हुआ, वहीं ब्रिटिश हुकूमत ने भारत के पारंपारिक उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया...।”<sup>7</sup> कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की विषमता का चित्र उक्त नीतियों और स्थितियों के फैलते संजाल का ही प्रतिफल होता है। भारतीय संदर्भ में, बड़ी पूँजी के सम्प्रसार के फलस्वरूप एक ऐसी स्थिति जन्म लेनी शुरू होती है, जहाँ आम-आदमी अपना सामाजिक-आर्थिक विकास नहीं देख पाता है। आधुनिक पूँजीवादी समाज जो सामंती समाज की ध्वंस से पैदा होता है, वह वर्गीय विरोधों को खत्म करने के बजाय कुछ दूसरे कार्य ही करता है। यह केवल पुराने के स्थान पर नए वर्ग को, उत्पीड़न की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नई अवस्थाओं को खड़ा कर देता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की एक अन्य सच्चाई यह होती है कि यहाँ औद्योगिक विकास योजनावद्ध तरीके से लागू नहीं होता है। बड़ी पूँजी के मालिक सरकार से लाभ उठाने की नीयत से कारखानों-फैक्ट्रियों की शुरूआत करते हैं। उनके समक्ष जनता का हित नदारद रहता है। इस तथ्य के प्रमाण हेतु समाज-साहित्य चिंतक डॉ. कुँवरपाल सिंह के निम्न मत का अवलोकन किया जा सकता है—“...अधिकांश निजी क्षेत्र में उद्योग-धंधे उन्हीं क्षेत्रों में लगे, जहाँ मजदूरी सस्ती हो तथा प्रदेश सरकारें अधिक से अधिक सुविधाएँ देने को तैयार हों, जैसे सस्ती बिजली और पानी, कम मूल्य पर भूमि, टैक्सों में कमी, आयात-निर्यात संबंधी छूट एवं सरकारी संरक्षण... वे क्षेत्र नए उद्योगों के लिए चुने जाएँ जहाँ वामपंथी राजनीति का विशेष प्रभाव न हो ताकि भविष्य में किसी

प्रकार का विवाद न खड़ा हो।<sup>8</sup> जिससे सहज ही पूँजीपतियों की केवल मुनाफाखोरी की बदनीयत का संज्ञान होता है। हालांकि पूँजीपतियों की इस बदनीयत का बीजारोपण स्वतंत्रता पूर्व ही हो चुका होता है, तथापि स्वतंत्रता उपरांत भारत की आर्थिक नीतियाँ इसे पल्लवित होने का भरपूर सु-अवसर प्रदान करती हैं। यहाँ यह उल्लेख करना भी प्रासांगिक लगता है कि स्वातंत्र्योत्तर औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में द्रुत नागरीकरण होता है। फलस्वरूप, नगरों में एक नया वर्ग प्रस्थापित होने लगता है जिसमें न सामंती ऐंठ रहती है और न निम्नवर्ग की लाचारी। स्वातंत्र्योत्तर एक-दो दशक के आते-आते समाज में मध्यवर्ग की स्थिति स्पष्ट होने लगती है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के निम्न कथन में उक्त मत की संपुष्टि देखी जा सकती है— “सामंती समाज का अंत होने पर नवीन औद्योगिक सभ्यता का आविर्भाव हो रहा था और नगरों में नवीन मध्यवर्ग की सत्ता स्थापित हो रही थी।”<sup>9</sup>

वैसे, यहाँ यह कहना भी साभिप्राय है कि सामाजिक विघटन की प्रक्रिया में सामंती ढाँचा पूरी तरह चूर्ण नहीं होता है। बीसवीं शती के मध्य में सामंत ही पूँजीपति के रूप में नया चोगा पहन लेते हैं, और उनकी तरक्की-उन्नति की प्रक्रिया में ही नवीन वर्ग की सृष्टि होती है। इस नवीन वर्ग की संकल्पना के संबंध में हिंदी साहित्य कोश कुछ यह कहता है—“पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया है कि मध्यवर्ग की आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन-सूत्र को समझाल सके। इस वर्ग में नौकरी-पेशा शिक्षक-क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रांति के प्रायः समस्त विचारों का सर्जन मध्यवर्ग में ही होता है।”<sup>10</sup> जिससे यह समझा जा सकता है कि समाज की गतिशीलता में मध्यवर्ग की अपनी अहमियत है। यह वर्ग दक्षता से पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विकास-सूत्र को थाम सकता है तथा यह अपनी काबलियत से सृजन और संघर्ष के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की दिशा भी निर्धारित कर सकता है। देखा जाए तो, आधुनिक सभ्यता के विकास और संघर्ष में इस वर्ग की जरूरत सर्वहारा समाज को ज्यादा रहती है बजाय पूँजीपति वर्ग के। पूँजीपति वर्ग इस तथ्य को बेहतर समझता है, इसी कारण यह मध्यवर्ग को लाभ पहुँचाकर उसे सर्वहारा वर्ग से दूर रखने की हर प्रचेष्टा करता है। पूँजीपति वर्ग मध्यवर्ग में अर्थ के प्रति आकर्षण-अनुरक्ति पैदा करता है, ताकि यह वर्ग अपने व्यक्तित्व के क्रांतिकारी परिवर्तनकारी और सर्जक पहलुओं को भूलाकर नवीन पूँजीपति बनने का स्वप्न-आकांक्षा पालता रहे। गौरतलब यह है कि यह वर्ग अपना

जीवन स्वयं भी विडम्बना ग्रस्त बनाता है, क्योंकि यह निम्नवर्ग (सर्वहारा आदि) से अपने को श्रेष्ठ और अलग समझता हुआ अपने मालिक (पूँजीपति) के हितों की रक्षा में जुट जाता है। पर समस्या तब खड़ी होती है जब इस वर्ग में आर्थिक विकास की समझ पैदा होती है। इस बोध के कारण ही जब उन्हें स्वलाभ मिलता हुआ प्रतीत नहीं होता है तब वह अनेक कुंठाओं का शिकार होता है। उसकी स्थिति दो-राहे पर खड़ी विडम्बनाग्रस्त नजर आती है। उसकी सफलता और सार्थकता के चुनाव की उलझन उसके समूचे व्यक्तित्व और जीवन को संतप्त कर देती है।

उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में उभरा मध्यवर्ग अपने क्रांतिकारी रूप से अनजान बना रहता है। पो. रामचंद्र माली के निम्न कथन में उक्त तथ्य को पढ़ा जा सकता है—  
 “स्वाधीनता के बाद मूल्यहीनता स्वार्थता, सत्ता लोलुपता तथा भ्रष्टाचार के बढ़ते जाने के कारण उन्नीस सौ साठ तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय समाज सर्वाधिक अनुशासनहीन, विघटित, स्वार्थी एवं अव्यवस्थित बन गया।”<sup>11</sup> यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि मध्यवर्ग अपनी वास्तविक स्थिति को ग्रहण नहीं कर पाता है, साथ ही साथ अपनी आकांक्षित स्थिति के लिए नित छटपटाता रहता है। फलतः यह अपनी ही सीमाओं और कुंठाओं में क्रमशः कैद होता जाता है।

इस प्रकार कहा जाए तो स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में मध्यवर्ग की अपनी उलझाव पूर्ण स्थिति के कारण ही व्यापक सामाजिक परिवर्तन की स्थितियाँ नहीं बन पाती हैं। जहाँ सर्वहारा वर्ग अपनी बिखरी शक्ति को संगठित करने हेतु तत्पर हो रहा होता है, वहीं मध्यवर्ग अपनी ही खोल में दुबका रहता है। मार्कण्डेय की स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन की कहानियों में सर्वहारा वर्ग की विजय पूर्ण स्थितियों का अभाव तथा उनकी ग्रामेतर संदर्भ की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ स्वरूप यौन समस्याओं आदि विसंगतियों का चित्रण मार्कण्डेय के कहानीकार की उस यथार्थ-दृष्टि को ही प्रतीकित करता है, जो अपने आस-पास के वस्तुगत संदर्भों को सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है।

### 5.3 मार्कण्डेय की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ

मार्कण्डेय की यथार्थ दृष्टि की सम्पूर्णता का ही यह प्रतिफलन है कि उनके ग्रामीण जीवन के यथार्थ के अंकन के समानांतर ग्रामेतर जीवन-संदर्भों की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ का उपस्थापन संभव होता है। उनकी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन का जो पहलू उद्घाटित होता है उसे निम्न शीर्षकों के अंतर्गत विवेचित-विश्लेषित किया जा सकता है।

### 5.3.1 निस्संगता, अकेलापन और मध्यवर्ग

स्वाधीनता के बाद के परिदृश्य को अगर देखा जाए तो यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में नगरीगत होते समाज में जीवन के अन्यान्य पहलुओं के साथ व्यक्ति के संबंधों में एक व्यापक परिवर्तन लक्ष्य किया जाता है। वैसे, महानगरीय समाज की आपाधापी और यांत्रिकरण में व्यक्ति का निजी दृष्टिकोण सबसे पहले प्रभावित होता है। स्वातंत्र्योत्तर मिली निराशा और मोहभंग के माहौल में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी समाज के साथ बहुसंख्यक आमजन भी व्यापक असंतोष के माहौल में स्वयं को पाता है। इस संबंध में डॉ. ज्ञान अस्थाना का निम्न मत प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है।—“ सच तो यह है कि बीसवीं शताब्दी से लेकर आज तक निरंतर हमारा समाज परिवर्तनों से गुजरता रहा है। आजादी से पहले हमने एक सपना पाला था बहुत दिनों तक उसके सत्य होने की भ्रमपूर्ण आशा में जीते रहे किंतु जब सपना सच न हुआ और उल्टे नैतिक अवमूल्यन होने लगा तो भारतीय मानस विशेषकर बुद्धिजीवी को गहरा आघात लगा।”<sup>12</sup> दरअसल सच्चाई यह होती है कि सभ्यता के विकास के नैरंतर्य में परिवर्तित जीवन-स्थितियों के चतुर्दिक मध्यवर्ग ही ज्यादा अपने आप को पशोपेश में पाता है। उसका मन स्वीकार-तिरस्कार के दो-राहे पर उलझकर रह जाता है। वैसे भी, मध्यवर्गीय व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा तथा अपनी समझ और बोध उसमें इस भावना को परिपुष्ट करने का कार्य करती है कि वह सामान्य जन से विशेष अस्तित्व रखता है। उसका यही भाव-बोध उसे व्यापक जन समुदाय से अलग कर आत्मकेन्द्रित करने का कार्य करता है। डॉ. वासुदेव शर्मा के निम्न मंतव्य में उक्त तथ्य की संपुष्टि देखी जा सकती है—“आज वैज्ञानिक तकनीकी के विकास के युग में बढ़ती व्यक्ति चेतना के कारण व्यक्ति बौद्धिक होता गया है। शिक्षा ने भी उसमें घी का काम किया है कि व्यक्ति ज्यो-ज्यों शिक्षित होता गया, त्यो-त्यो वह आत्म केन्द्रित तथा सीमित होता गया।”<sup>13</sup>

मध्यवर्गीय जीवन बोध में समाविष्ट आधुनिकता बोध भी उसे अपने आस-पास के रिश्तों और संबंधों से अलग कर उसके अंदर एक निःसंगता बोध को जन्म देता है। इसका यह कारण भी है कि वह प्राप्य स्थितियों को असंगत समझता है। उसे प्रतीत होता है कि उसका अस्तित्व संकटग्रस्त हो सकता है। वह स्थितियों के साथ संघर्ष करने के बजाय अपनी असफलता, हार और असंतोष में ही गुम हो जाता है। प्रो. रामचंद्र माली का निम्न मंतव्य यहाँ प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है—“इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिकीकरण के कारण मानवीय जीवन एवं संबंधों में



परिवर्तन आए हैं, इसलिए मनुष्य अकेलापन, उदासीनता, रिक्तताबोध, अजनबीपन, व्यस्तता, अलगाव, घुटन आदि का अनुभव कर रहा है। वैज्ञानिक सभ्यता के इन परिणामों के आगे उसने घुटने टेक दिए हैं। महानगरीय संबंधों में व्यक्ति तनाव महसूस कर रहा है। अपने अस्तित्व को बचाने की कोशिश में वह यांत्रिकी के भयावह ताण्डव में गुम गया है तथा भीड़ में अकेला रह गया है। रिश्तों और संबंधों से कटकर घुटन महसूस कर रहा है तथा भीषण संकट बोध को भोग रहा है। मानव पीड़ा के इस भोग का जन्मदाता वह स्वयं है।<sup>14</sup> जिसका कहने का अभिप्राय यह है कि मध्यवर्ग को अपनी असफलता, हार, जीवन संकट आदि का भय इतना व्यथित करता है कि वह अपने को निस्संग कर अकेलेपन की पीड़ा को भोगने हेतु अभिशप्त हो जाता है।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की ग्रामतेर संदर्भ की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन का निःसंगता-बोध और अकेलापन भली-भाँति चित्रित हुआ है। इस संबंध में सबसे पहले उनकी 'लंगड़ा दरवाजा' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। आलोच्य कहानी स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य में मध्यवर्गीय व्यक्ति के निस्संग बने रहने की तस्वीर प्रस्तुत करती है। इस कहानी में मध्यवर्गीय जीवन बोध का वह चिर-परिचित पहलू भी दृष्टिगोचर होता है, जहाँ व्यक्ति अपनी वैयक्तिक इच्छाओं-समस्याओं को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने की आपाधापी में संलग्न रहता है। मार्कण्डेय का कहानीकार उक्त सच को व्यंग्यात्मक तरीके से उजागर करता है—“लोगों में होड़ मची है। दुख को जितना भी फैलाया जा सकता है लोग फैला रहे हैं। उसकी गहराई को कुशल रसोइए की तरह चकले पर रख रोटी की तरह बेल कर उथला कर रहे हैं।”<sup>15</sup> इस कहानी का प्रमुख पात्र 'मैं' एक मध्यवर्गीय व्यक्ति है, जो अपने दुःखों को बढ़ा कर देखता हुआ उसी में अंतर्केंद हो जाने की ओर प्रवृत्त होता है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि वह अपने चतुर्दिक समाज तथा उसकी सच्चइयों से क्रमशः पृथक होता जाता है। उसे अपने आस-पास का समाज-संसार भंयकर प्रतीत होता है और घृणास्पद भी—“लोगों की बातों में मेरी कोई पैठ नहीं रह गयी है इसलिए जब वह सहसा गाँव से मुंशी मनोहर लाल के आने की बात कहती है तो मैं तिलमिला उठता हूँ।”<sup>16</sup> यहाँ कहानीकार का वह संकेत समझा जा सकता है, जहाँ 'मैं' अपने दुःखों-समस्याओं से बाहर कुछ देखना नहीं चाहता है। इस कहानी में 'मैं' अपने बेटे की मृत्यु से दुःखी रहता है। यह दुःख उसे सामाजिक जीवन से दूर ले जाती है। वह अपने को अकेला पीड़ित और दुःखी समझता हुआ सामाजिक जीवन और संसार से निस्संग हो जाता है। वह अपने दुःख की अतल गहराइयों में अपने

समक्ष एक भयंकर संसार की फैंटेसी करता है, जिसमें स्वयं को वह जकड़ा हुआ अनुभव करता है—“...बहुत साहस के बाद जब फिर आँखें खुली तो देखता हूँ सूली पर खुद मरी ही लाश टंगी हुयी है। मुँह से खून की पहली धार फूट चली है और मेरी जीभ बाहर को निकल आयी है। नीचे कोई डुग्गी बजा कर जोर-जोर से पुकार रहा है...इस आदमी की हथेली के नीचे बच्चे मरते हैं।”<sup>17</sup> उसकी यह जकड़न तब खुलती है, जब वह कहानी के ही एक अन्य पात्र मुंशी मनोहर लाल से मिलता है। मुंशी मनोहरलाल ‘मैं’ को जीवन का दूसरा फलक दिखलाते हैं। मुंशी जी के भी इकलौते पुत्र की मृत्यु हो चुकी होती हैं तथापि वे इस मृत्यु से उपजे दुःख से जड़ नहीं होते हैं, जैसा कि आलोच्य कहानी का ‘मैं’ होता है, बल्कि वे अपने पुत्र की मृत्यु के बावजूद भी एक नई शुरुआत करते हैं। वे संगीत विशारद की परीक्षा देते हैं तथा उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आगे के जीवन को कर्मवत बनाए रखने हेतु नौकरी की तलाश में संलग्न हो जाते हैं। इसी संलग्नता की कड़ी स्वरूप उनका ‘मैं’ के घर आगमन होता है। प्रस्तुत कहानी का ‘मैं’ उनकी जिंदगी के प्रति होने वाली रवानगी को देखकर हतप्रभ भी होता है—“वह अब एकदम सहज स्वर में थोड़ा जोर देकर बोल रहा था और कुछ ऐसी कोशिश कर रहा था जिससे मैं बातचीत में शरीक हो जाऊँ लेकिन मैं उसे देख रहा था और संदेह कर रहा था। क्या यह एक ऐसा आदमी है जिसका अकेला लड़का इसी महीने मरा है...”<sup>18</sup> यहाँ कहानीकार ‘मैं’ के निस्संग व्यक्तित्व के समानांतर मनोहर लाल के रूप एक ऐसे चरित्र को रखता हैं, जो जीवन के प्रति सृजनात्मक एवं क्रियात्मक सोच रखता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि इस कहानी के माध्यम से यह दिखलाने की चेष्टा करती है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी निस्संगता और अकेलेपन से तभी निकल सकता है, जब वह वैयक्तिकता के पार देखने की चेष्टा करता है। आलोचक सुरेन्द्र चौधरी के निम्न मंतव्य में मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि में निहित मध्यवर्गीय जीवन बोध के यथार्थ के उद्घाटन का महत्त्व कुछ इस प्रकार प्रकाशित होता है—“कहानी एक पुरा कथा के अभिप्रायः से शुरू होती है। ...पुराकथा के भीतर से अचानक एक सम्पूर्ण दुःखगीत जन्म लेता है। मगर उस पर एक यथार्थ हावी है— मृत्यु की वर्तमानता और जीवन के अंतर्विरोध से उत्पन्न यथार्थ।... यह यथार्थ काफी त्रासद होता है। वह धीरे-धीरे दुःख पर विजयी हो जाता है। निर्वैयक्तिक परिस्थितियों की विजय।”<sup>19</sup> मार्कण्डेय की कहानी ‘लंगड़ा दरवाजा’ न सिर्फ मध्यवर्गीय जीवन में समाविष्ट

निस्संगता बोध और अकेलेपन की गंभीर पड़ताल करती है, बल्कि उसे सृजनात्मक अर्थ देने का भी संकेत करती है।

देखा जाए तो मध्यवर्गीय जीवन में समाविष्ट निस्संगता बोध और अकेलेपन के लिए केवल इस वर्ग के लोगों की अपनी दुःख-समस्याओं में अंतर्केंद होने की मानसिकता या वस्तुस्थिति से घबराकर पलायन कर जाने वाली सोच ही जिम्मेदार नहीं होती है, बल्कि उनका जीवन के प्रति रोमांटिक दृष्टिकोण भी उन्हें संघर्ष-क्षेत्र से दूर ले जाकर उन्हें उनके स्वयं के सिरजे काल्पनिक संसार में छोड़ देता है। इस सच्चाई को मार्कण्डेय की 'आँखें' कहानी में देखा जाता है। इस कहानी में मध्यवर्गीय पात्र को उनका रोमांटिक भावबोध उन्हें सामाजिक जीवन संघर्ष से दूर ले जाता है। इस कहानी के नरेश और वीरा, दोनों एक-दूसरे को चाहते हैं। नरेश के जीवन का वृत्त वीरा के चतुर्दिक ही चक्कर काटता है। वह वीरा के प्रति अपनी चाहत में ही अपने जीवन की इति समझता है। दरअसल उसकी यह चाहत उसे सामाजिक और सृजनात्मक-क्रियात्मक होने के बजाय उसे एक काल्पनिक दुनिया में अंतर्केंद करती है, जो उसकी स्वयं की ही निर्मिति होती है। जिसका परिणाम यह होता है कि नरेश सामाजिक कर्म-क्षेत्र में आने से घबराता है—“वैसे वह पुस्तकालय जाता है, चाय और कहवाघरों में भी चक्कर लगाता है पर कुछ देर बाद ही जैसे उसकी नसों में बँधी अमूर्त डोर उसे उस कोठरी में खींचने लगती है, वह उठ खड़ा होता है ओर अपनी टूटी बाइसिकिल खड़खड़ाता कोठरी में आ घुसता है।”<sup>20</sup> यहाँ उस संकेत को स्पष्ट समझा जा सकता है, जो यह कहता है कि नरेश के लिए कोठरी ही उसकी समूची दुनिया है तथा वीरा के प्रति होने वाली उसकी चाहत ही उसके जीवन की इति। कहानीकार मार्कण्डेय मध्यवर्गीय पात्र की उक्त मनोदशा को नरेश के जरिए कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं—“कभी-कभी तो नरेश को लगता है कि हर ईंट एक वीरा है और हर वीरा एक ईंट-नरम-कड़ी, लाल-भूरी और कच्ची-पक्की। फिर उसका सिर चक्कर खाने लगता है, और कोठरी की सारी ईंटे एक ऐसी भँवर का हिस्सा बन जाती हैं, जिसके निचले बिंदु-वृत्त में वह मुड़-तुड़ कर एक गठरी-सा बन जाता है और वीराओं का एक बड़ा-सा अम्बार उसके शरीर पर लद जाता है और उसकी रीढ़ की हड्डी चरमराकर टूट जाती है।”<sup>21</sup>

स्पष्ट है कि यहाँ कहानीकार का तात्पर्य मध्यवर्गीय पात्र के सामाजिक जीवन से निस्संग बने रहने के पीछे उस कारण को दिखलाना है, जो मध्यवर्गीय व्यक्ति को जीवन को रोमांटिक

तरीके से देखने की ओर प्रवृत्त करता है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि नरेश जैसा मध्यवर्गीय व्यक्ति समाज को वस्तुपरक ढंग से नहीं देखता है और समाज की गति और संघर्ष से अनजान बना रहता है। मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि इस कहानी के एक अन्य पात्र के माध्यम से उक्त मध्यवर्गीय सोच और बोध की आलोचना करती है –“ ...क्योंकि संतोष की समझ में उसके पास आँखें नहीं थीं। वह अक्सर कहता है, आज-कल के लड़के अंधे हैं। वे ठीक से चीजों को देखने-समझने की कोशिश ही नहीं करते? वर्ना मुश्किल क्या है इस दुनिया में?”<sup>22</sup> वैसे यह सच भी है, जीवन के सामाजिक क्षेत्र में दृढ़तापूर्वक प्रवेश करने के बाद हर मुश्किल राह आसान हो जाती है। किंतु, इसके लिए व्यक्ति को वैयक्तिक दुःखों, चाहतों और स्वयं की सीमाओं से सिरजी हुई दुनिया से बाहर निकलना आवश्यक होता है।

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'सतह की बातें' में भी मध्यवर्गीय निस्संगता बोध और अकेलेपन का पहलू को चित्रित होता है। आलोच्य कहानी में यह देखा जाता है कि मध्यवर्गीय जीवन में यह सोच समायी हुयी रहती है कि, जीवन के सारे प्रश्न बैठकों में, बहस-मुबाहिसों में ही हल हो जाते हैं, जो उसकी जिंदगी का अभिन्न हिस्सा होते हैं। वैसे, यह ठीक भी है कि मध्यवर्ग बुद्धिप्रधान होने के नाते जीवन और समाज के विभिन्न पहलुओं की चर्चा करता है, उस पर अपनी राय-प्रतिक्रिया भी जाहिर करता है, जो उसकी सामाजिक सृजनात्मकता को ही दर्शाता है। किंतु तब, जब वह अपने विचार को एक रचनात्मक -क्रियात्मक रूप प्रदान करता है। और ऐसा तभी संभव हो पाता है जब वह बैठक बहस-मुबाहिसों की जिंदगी से बाहर निकलकर सामाजिक संघर्ष-क्षेत्र में उतरता है। 'सतह की बातें' कहानी में मध्यवर्गीय पात्रों की कॉफी हाउसों में नित्यप्रति उपस्थिति तथा वहाँ होने वाली चर्चा-परिचर्चा के बाद अपनी राह पकड़ लेने वाली जीवन-शैली के माध्यम से मार्कण्डेय उक्त सच की ओर संकेत करते हैं। यही नहीं, वे इस कहानी में यह भी दिखाते हैं कि मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी इच्छा-चाहत में प्राप्त निराशा से कुंठित होकर सामाजिक जीवन से निस्संग हो अंतर्मुखी जीवन जीने को बाध्य होता है। मार्कण्डेय उक्त सच को कहानी के ही अन्य पात्र कांत के माध्यम से कहलवाते हैं। कांत ललित की सामाजिक निस्संगता पूर्ण जीवन का चित्र कुछ इस प्रकार रखता है –“बेशक साहब, मैं उसे जानता हूँ और शायद उतना जितना आप भी न जानते होंगे। बहुत सारे लोग उसे जानते हैं पर वह किसी को नहीं जानता। मैं तो उससे घंटों बातें करके देख चुका हूँ। लेकिन अगर अभी पूछें तो कहेगा,

“आप...! आप का पहचाना नहीं मैंने!”<sup>23</sup>

इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन में समाए निस्संगता बोध और अकेलेपन को विभिन्न कोण से देखती हैं। जहाँ, यह भली-भांति उजागर होता है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति की अपने स्व की सीमा में कैद रहने की वैयक्तिकता, अपने दुःख-समस्या को ओढ़े रहने की मानसिकता, अपनी रोमानी काल्पनिक दुनिया में वास्तविक-संसार की वस्तुपरकता से घबराकर बार-बार शरण लेने की लिजलिजाहट तथा सामाजिक जीवन की समस्या पर अपनी राय-प्रतिक्रिया व्यक्त करने के उपरांत अपनी सामाजिक उपस्थिति तथा कर्तव्य की इति समझ लेने की सोच आदि ही उसे सामाजिक जीवन से निस्संग कर अकेलेपन की पीड़ा को भोगने हेतु संतप्त करती है।

### 5.3.2 व्यक्तित्व का दोहरापन और मध्यवर्गीय जीवन

भारतीय सामाजिक-संरचना पर अगर दृष्टिपात किया जाए तो यह देखा जाता है कि मध्यवर्ग की स्थिति बिल्कुल अलहदा है। यह अपने ऊपर के वर्ग यानि, उच्च वर्ग के साथ अपनी समानता की चाहत रखने के बावजूद भी उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाता है तथा अपने नीचे के वर्ग यानि, निम्नवर्ग के साथ कमोवेश समान स्थिति में होने के बावजूद भी अलग विशिष्ट स्थिति को प्राप्त करने हेतु छटपटाता रहता है। कहने की बात नहीं है कि यहीं से उसके व्यक्तित्व में दोहरापन शामिल हो जाता है। मध्यवर्गीय व्यक्ति के वास्तविकता में ‘होने’ तथा दिखने में एक बड़ा फासला होता है। इसका जीवन अंदर कुछ बाहर कुछ और के सिद्धांत से परिवेष्टित रहता है। इसका बाह्य व्यक्तित्व जिसमें उसका आप्तवचन, उसकी वेश-भूषा तथा उसका हाव-भाव समाहित रहता है, उसके आभ्यांतर व्यक्तित्व से अलग होता है। मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने इस आभ्यांतर व्यक्तित्व को स्वयं के भीतर ही सुरक्षित-संरक्षित रखने की बलपूर्वक चेष्टा करता है, क्योंकि वह समाज तथा उसकी नैतिकताओं तथा सामाजिक व्यवहार की संगति से बिल्कुल जुदा होता है।

उल्लेखनीय है कि स्वातंत्र्योत्तर आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण एवं नागरीकरण की प्रक्रिया में विकसित मध्यवर्ग का व्यक्तित्व भी दोहरापन से पूर्ण होता है। जैसा पूर्वोक्त है कि स्वातंत्र्योत्तर पूँजीवादी आर्थिक-व्यवस्था और विकास में मध्यवर्ग की अपरिहार्यता सर्वत्र दिखयी देती है। यह वर्ग ही पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के सूत्र थामें पूँजीवादी लोगों की रक्षा हेतु संलग्न रहता है, जबकि पूँजीवादी समाज इसमें लोभ पैदा करता है। उसे नवीन पूँजीवादी या उच्च वर्गीय बनने

के स्वप्न दिखाता है तथा उसे निम्न वर्गीय लोगों से पृथक रखने की हर संभव कोशिश करता है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि यह वर्ग कभी उच्च वर्ग (पूँजीपति वर्ग) की ओर खिंचता है तो कभी निम्नवर्ग (सर्वहारा वर्ग) की ओर। इसकी स्थिति त्रिशंकु की भाँति होती है जो इसके व्यक्तित्व को भी दोलायित किए हुए रहती है।

मार्कण्डेय का कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय व्यक्तित्व के उक्त दोहरेपन को बड़ी बारीकी से लक्ष्य करता है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम उनकी 'आदर्शों का नायक' कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति (मध्यवर्गीय) एक ही स्थिति में अपने लिए कुछ मानक तय करता है, जबकि दूसरों के लिए कुछ और। यही नहीं, वह एक ही स्थिति में अपने लिए बाह्य-आभ्यांतर स्तर पर अलग-अलग विचार-मूल्य निर्धारित करता है। प्रस्तुत कहानी का पात्र जोगेन्द्र सिंह ऐसा ही मध्यवर्गीय व्यक्ति है। वह एक उच्च अधिकारी है, जो अपनी बेटी (स्त्री) के रूप-सौंदर्य, स्वतंत्रता, शैक्षणिक अर्हता-योग्यता और कार्य-कुशलता आदि को सभा-समाज के समक्ष भुनाकर स्वयं को एक प्रगतिशील व्यक्तित्व तथा एक आदर्श पिता कहलवाने की हर संभव कोशिश करता है; उसका हर समय दंभ भरता है—“बड़ी बधाइयाँ मिली थीं मुझे दीक्षान्त समारोह के दिन। वह महिमा तो कहने लगी कि ऐसी बेटियों पर स्त्री जाति का भविष्य निर्भर है।... कितना गर्व होता है मुझे जब मैं कभी उसे ले कर दावतों में जाता हूँ। लोग देखते ही रह जाते हैं मेरी सविता को। और सलीका! क्या कहना है मेरी सविता का। मेज पर बैठेगी तो लगेगा सात पुश्त से काँटे-चम्मच से ही खाया जाता है मेरे घर में। बोल तो ले कोई अंग्रेजी मेरी बच्ची के सामने।”<sup>24</sup> पर वास्तविकता में, वह एक अलग ही पिता एवं व्यक्ति की छवि रखता है। जिसे अपनी बेटी (स्त्री) का सहज-स्वच्छंद व्यवहार तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता है। यही नहीं, एक पिता के रूप में वह अपनी बेटी की आकांक्षाओं, भावनाओं, सपनों-खुशियों और अहसासों की तनिक भी फिक्र नहीं करता है—“दुष्ट लड़की कहीं की! बाप की मर्यादा का भी ख्याल नहीं तुझे। इतना ही सोचा होता कि मैं कितना ऊँचा अधिकारी हूँ। मेरी समाज में इज़्जत है चार आदमी जानते-मानते हैं।... इसकी माँ ठीक ही कहती हैं कि जवान लड़की को इतनी आजादी नहीं देते। हर जगह ले कर घूमते नहीं, हर जगह जाने की छूट नहीं देते।”<sup>25</sup> जिससे जोगेन्द्र सिंह के रूप में मध्यवर्गीय व्यक्ति के व्यक्तित्व में समाया दोहरापन सहज ही जाहिर होता है। यहाँ उनके बाह्य-आभ्यांतर चरित्र का अंतर मध्यवर्ग के जीवन में व्याप्त खोखलेपन

को दर्शाता है।

इसी तरह व्यक्तित्व में व्याप्त खोखलापन उनकी एक अन्य कहानी 'वासवी की माँ' के मध्यवर्गीय चरित्र में भी लक्ष्य किया जा सकता है। इस कहानी की वासवी का पिता कुछ ऐसा ही चरित्र है। जिसकी समाज के समक्ष जो छवि होती है वह उसके वास्तविक चरित्र से पूरी तरह अलग होती है। उसकी बाह्य छवि एक साहित्य-प्रेमी, कला-अनुरागी तथा विचारवान बुद्धिजीवी की होती है। एक अच्छे पति और पिता की भी। पर असल में, जो उनका वास्तविक व्यक्तित्व होता है उसे समाज नहीं, बल्कि उसकी पत्नी तथा उसके घर की नौकरानी सीता को मालूम होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि बाह्य रूप से सभ्य-सौम्य और विचारवान दिखने वाला व्यक्ति अपने अंतर्जगत में यौन-ग्रंथियों का शिकार होता है। दिन के उजाले में अपने को एक आदर्श पति दिखलाने वाला व्यक्ति रात के अँधेरे में अपनी स्वयं की पत्नी को पर-पुरुष के आगे परोस देने में भी किंचित नहीं हिचकिचाता है। प्रस्तुत कहानी में वासवी की माँ का सीता को कहा गया निम्न कथन उसके पति (मध्यवर्गीय व्यक्ति) के खोंखले व्यक्तित्व को कुछ इस प्रकार प्रकाशित करता है-  
-“ वह बड़ी भयानक रात थी वासवीं!... दोनों घुटनों के बीच, सिर गाड़े वे फफक-फफक कर रो रहीं थीं।... जब मैंने बहुत जिद की तो उन्होंने सिर ऊपर करते हुए कहा, आरती का दीपक बुझ गया सीता!... गंगा का पानी इतना गंदला हो गया कि तुम उसे अब छू भी नहीं सकती... 'इसकी माँ तो मर गयी, सीता! हाँ, सच मानो, आज ही रात में, आज ही रात में, इसी, अँधेरे में उसे पिशच उठा ले गए। वह मरती नहीं, उसको तो जीने में विश्वास था, पर पिशाचों ने धोखे से उसे मारा।”<sup>26</sup>  
जिससे यह स्पष्ट समझा जा सकता है व्यक्तित्व का दोहरापन तथा उसे परिचालित-संचालित करने वाली यौन-कुंठा न सिर्फ एक पत्नी(स्त्री) को छलती है, बल्कि समाज के सम्मुख एक व्यक्ति को भी खोंखला साबित कर देती है। यहाँ एक कलानुरागी, साहित्य-प्रेमी मध्यवर्गीय व्यक्ति के भीतर छिपी असलियत के बहाने मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों को दर्शाते हुए अपनी उस यथार्थ-दृष्टि को ही प्रतीकित करते हैं, जो वस्तुस्थिति को सम्पूर्णता में पकड़ने की चेष्टा करती है।

अतः यह स्पष्ट है कि मध्यवर्गीय जीवन की दिशाहीनता एवं विसंगति के लिए उसके व्यक्तित्व की असंगति जिम्मेवार नज़र आती है। मार्कण्डेय की उक्त कतिपय कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन के इस यथार्थ को पूरी सक्षमता से उज्जीवित करती हैं।

### 5.3.3 स्त्री और मध्यवर्ग

यह सर्वविदित है कि नारी परिवार और समाज की रीढ़ होती है। इस कारण भी उसकी स्थिति सामाजिक संरचना के अंतर्गत श्रेष्ठ मानी जानी चाहिए, किंतु वास्तविकता ठीक इसके उलट है। सदियों से, भारतीय समाज में नारी की स्थिति दयनीय रही है। धर्म, परंपरा, नीति-विधान की आड़ में उसकी स्वतंत्रता, समाज में पुरुष से उसकी समानता के मुद्दे को बार-बार दबाने का प्रयास होता रहा है। इस संदर्भ में, डॉ. वी.पी. चौहान लिखते हैं—“समाज के सारे नीति-नियम, धर्म-कानून व प्रतिबंध केवल नारी के लिए बने हुए हैं। परिणामस्वरूप भारतीय समाज में नारी अनेकानेक समस्याओं से ग्रस्त रही है। एक ओर पुरुषों को स्वच्छंद जीवन भोगने के लिए अनेक सामाजिक सुविधाएँ उपलब्ध रहीं, दूसरी तरफ नारी घर की कारा में बंद, पुरुषों के हाथ की कठपुतली बना दी गई। प्राचीन धर्मशास्त्रों ने तो यावज्जीवन पुरुषाधीन कर नारी-जीवन को अभिशापित-सा बना दिया। समाज तथा परिवार में नारी को पुरुषों की तुलना में हेय समझकर उन्हें समानाधिकारों से वंचित रखा गया।”<sup>27</sup> जिसका कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक संरचना में स्त्री सदा हीन समझी जाने के कारण शोषित होती रही है।

उल्लेखनीय है कि वर्गों में विभक्त, आर्थिक-सामाजिक विषमता से ग्रस्त सामाजिक संरचना में स्त्री की अवस्था ज्यादा दयनीय है, क्योंकि स्त्री हर वर्ग में पुरुषों द्वारा शोषित होती आई है। डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी के निम्न मंतव्य को उक्त संदर्भ में पढ़ा जा सकता है—“सामाजिक विषमता का मूल आधार है आर्थिक विषमता। इस विषमता का शिकार मुख्यतः निम्न-मध्य वर्ग और निम्न वर्ग हो रहा है। किंतु नारियाँ तो सभी वर्गों की शोषित हैं।”<sup>28</sup> जिससे यह समझा जा सकता है कि स्त्री हर वर्ग के द्वारा प्रपीड़ित होती है। मध्यवर्ग स्त्री के पति जो मानसिकता रखता है, वह दोहरा मानदण्ड ही है। इस वर्ग के पुरुषों का स्त्री के प्रति होने वाले नजरिये के माध्यम से भी मध्यवर्गीय संस्कार की उन कमजोरियों से अवगत हुआ जा सकता है, जो उसे सामाजिक जीवन के संघर्ष और परिवर्तन के मध्य आने से संशकित किए हुए रहती है। यहाँ इस संदर्भ में, मार्कण्डेय की कहानियों का प्रमाणस्वरूप जिक्र किया जा सकता है।

यहाँ सर्वप्रथम मार्कण्डेय की कहानी ‘मिस शांता’ का उल्लेख स्वाभाविक लगता है। आलोच्य कहानी में स्त्री के प्रति मध्यवर्गीय संस्कार-बोध का वह चेहरा उभर कर आता है, जो कहीं परंपरागत दिखता है तो कहीं दोहरा-मानदण्ड को प्रतीकित करता हुआ। प्रस्तुत कहानी की मिस



शांता मध्यवर्ग की एक शिक्षित आत्मनिर्भर एवं आजाद खयाल की नारी है। जिसे परंपरागत संस्कारों से ग्रस्त मध्यवर्गीय पुरुष (बरोरा) एकबारगी स्वीकार नहीं कर पाता है। वह मिस शांता के स्वतंत्र और अकेले रहने की स्थिति को बिल्कुल बर्दास्त नहीं कर पाता है, क्योंकि वह स्त्री को उस परंपरागत रूप में देखता है, जो स्त्री को घर की चहारदीवारी की शोभा समझता है। वह इसी कारण मिस शांता के बारे में जो धारणा बनाता है, वह वस्तुस्थिति का उचित संज्ञान लिए हुए नहीं होता है, बल्कि उसकी अपनी कल्पना द्वारा गढ़ा हुआ होता है। दिलचस्प बात तो यह होती है कि वह अपनी काल्पनिक धारणा को दूसरों के समक्ष एक गहरे सच के रूप में जाहिर करता है—“यही यार! कि उसे अनेकों से सम्पर्क रखने में कोई संकोच नहीं। वह आदी है। उसके जीवन का पहला विश्वास ही यही था।’ ...“अपने अठारहवें वर्ष में यह एक ऐसे लड़के के चक्कर में फँस गयी, जिसके लिए यह और उसका एक मित्र एक ही से थे।”<sup>29</sup> जिससे यह समझा जा सकता है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति स्त्री की जो छवि प्रस्तुत करता है, उससे यही संकेतित-ध्वनित होता है कि मिस शांता, ऐसी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनके जीवन में घर, परिवार, पुरुष और समाज के प्रति कोई एकनिष्ठता की भावना नहीं होती है।

किंतु, आलोच्य कहानी से पूरी तरह गुजरने के उपरांत देखा जाता है कि वस्तुस्थिति कुछ और ही है। मिस शांता कहानी के ‘मैं’ के परिवार के प्रति जो सद्भावना, समर्पण और त्याग प्रदर्शित करती है वह उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व और आजाद खयाल वाली स्त्री-छवि को सम्पूर्णता प्रदान करती है—“एक दिन सुबह मैं सोकर उठा ही था कि बाहर बरामदे में शांता और खंजन की फुसफुसाहट सुन पड़ी... मैं बिस्तर से उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे चौक की ओर गया, तो शांता दूध का गिलास और अण्डे लेकर पत्नी को देने जा रही थी।”<sup>30</sup> यहाँ देखा जाए तो मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि बरेरा जैसे पात्र के माध्यम से मध्यवर्गीय पुरुष की दकियानूसी सोच से ग्रस्त उस निगाह को दर्शाती है, जो नारी के स्वाधीन और आत्मनिर्भर छवि को सहजता से स्वीकार करने में असमर्थ दिखती है। पर, यही पुरुष उसके साथ घूमना चाहता है, मौज-मस्ती करना चाहता है, उसकी खुली देह को भोगना चाहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मध्यवर्गीय जीवन-बोध में समायी पितृसत्तात्मक सोच के कारण नारी शोषित-पीड़ित-लांछित होती है। यही सोच मध्यवर्गीय जीवन को प्रतिगामी बनाती है, वस्तुस्थिति से दूर ले जाती है।

उल्लेखनीय है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति (पुरुष) नारी को उसकी सम्पूर्णता में समझने का

दावा बराबर करता है पर हकीकत में समझ नहीं पाता है। उसका बौद्धिक कोरापन नारी की सतही व्याख्या ही कर थम जाता है। मार्कण्डेय मध्यवर्गीय जीवन के उक्त बोध को उस कलाप्रेमी लेखक-व्यक्तित्व के माध्यम से दिखलाने की कोशिश करते हैं, जो नारी से संबंधित जीवन को सम्पूर्णता में चित्रित करने दावा करता है। पर हकीकत में, वह उसकी भावनाओं को समझ नहीं पाता है। मार्कण्डेय की 'एक दिन की डायरी' कहानी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। आलोच्य कहानी में लेखक (पात्र) शील नामक एक स्त्री से परिचित रहता है, वह भी उससे परिचित-प्रभावित रहती है। शील के मन में उसके प्रति प्रेम-भाव रहता है जिसे लेखक नहीं समझ पाता है और शील संकोचवश कह नहीं पाती है। एक दिन, शील लेखक को अपने घर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने हेतु बुलाती है, पर लेखक नहीं आता है। उसी दिन से शील की जिंदगी दूसरी ओर मुड़ जाती है। उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से हो जाता है, जिसके साथ वह खुश नहीं रह पाती है, क्योंकि वह अपने हृदय में लेखक के प्रेम को बसाए रखती है। उसके अत्यंत गंभीर और मौन रहने के स्वभाव का पता उसके पति को उसकी डायरी पढ़ने के बाद होता है। पति उसके प्रेम को जानने के बाद उसे अपने जीवन से परित्यक्त कर देता है और वह समाज में एक परित्यक्ता बन कर रह जाती है। यहाँ मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि यह दिखलाना चाहती है कि समाज में अपनी पहचान एक लेखक के रूप में बनाने वाला मध्यवर्गीय व्यक्ति, जो अपनी बौद्धिकता के सहारे कोरे कागज पर नारी-जीवन का चित्रण तो कर जाता है पर उसके प्रेम की गहराई को नहीं समझता है। वह शायद समझना नहीं चाहता है, वस्तुस्थिति का सामना करने के बजाय वहाँ से भाग खड़ा होता है।

गौरतलब है कि मध्यवर्गीय संस्कारों से ग्रस्त पुरुष नारी से प्रेम तो करना चाहता है, छिप-छिप कर करता भी है, पर समाज के समक्ष उसे स्वीकार करने या उस प्रेम का उत्तरदायित्व लेने से घबराता है। उसके भीतर बैठा कायरता बोध (मध्यवर्गीय संस्कार) उसे वस्तुस्थिति से पलायन करने को बाध्य करता है। मध्यवर्गीय संस्कार को प्रतीकित करने वाला यही कायरता बोध, व्यक्ति को सामाजिक जीवन के संघर्ष और परिवर्तन से दूर ले जाता है। यहाँ मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी 'माही' का भी जिक्र किया जा सकता है जिसमें मध्यवर्गीय संस्कार के रूप में व्यक्ति का कायरता बोध स्पष्ट रूप में उद्घाटित होता है। आलोच्य कहानी में माही नाम की एक लड़की अपने प्रेमी प्रीतिश को समर्पण की हद तक चाहती है, पर प्रीतिश उसके प्रेम को जानते-समझते हुए भी उससे उदासीन बना रहता है। और एक दिन, वह एक ग़ैर जिम्मेदार व्यक्ति की भाँति अपने प्रेम

का उत्तरदायित्व निर्वाह करने से घबराकर भाग जाता है। वह एक पत्र के जरिये इसकी सूचना देता है –“इसलिए अब कभी नहीं लिखूँगा, मेरी अंतरंग! तुम्हें कष्ट देना मुझे जरा भी प्रिय नहीं। मुझे न लिखना, पत्र नहीं मिलेंगे। मैं कहीं बाहर जा रहा हूँ और यह भी तय नहीं कि कब तक लौटूँगा... अलविदा...।”<sup>31</sup> जिसमें यह समझा जा सकता है कि मध्यवर्गीय संस्कार से ग्रस्त पुरुष चुनौतियों का सामना करने से घबराता है। उसका कायरता-बोध उसे प्रभावित-परिचालित करता है। इस कहानी में मध्यवर्गीय संस्कार के उक्त सच को मार्कण्डेय प्रीतिश की निम्न स्वीकारोक्ति के माध्यम से कुछ इस प्रकार दर्शाते हैं—“मैं जानता हूँ कि अब हमारा प्यार एक ऐसी सच्चाई बन गया है, जो हमारे झुठलाने की सीमाओं से पार हो गया है। अब कोई बड़ी-सी बड़ी बाधा भी हमारे मन को मोड़ पाने में असमर्थ है। फिर भी मैं अशक्त और बेचैन हो उठा हूँ। वैसे तुम्हारा प्यार मेरे जीवन का सहारा बना हुआ है, पर उस सहारे में कमजोरियों के ऐसे भयानक कीटाणु छिपे हैं, जो मेरे मन को निरंतर कटु बनाते जा रहे हैं...मैं खूब समझता हूँ, पर उससे मुक्त हो पाना मेरे अपने बूते के बाहर की चीज़ है।”<sup>32</sup>

इस प्रकार कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री के प्रति पुरुषों की सोच के माध्यम से मध्यवर्गीय उन संस्कारों को दर्शाने की चेष्टा करती हैं, जो मध्यवर्गीय व्यक्ति को सच्चाई का सामना करने के बजाय उससे दूर ले जाता है। उसका स्त्री के प्रति होने वाला दोहरा मापदण्ड उसे बरेरा (कहानी के पात्र) की भाँति जीवन में दिशाहीन बनाता है तो उसका बौद्धिक कोरापन और नारी-जीवन को सम्पूर्णता में जानने की कवायद उसे वस्तुस्थिति को समझने में अक्षम सिद्ध करता है, तो कहीं, उसके भीतर का कायरता-बोध उसे सामाजिक चुनौतियों और प्रश्नों से दूर ले जाता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय संस्कारों के जरिए स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ को रेखांकित करती हैं।

#### **5.3.4 मध्यवर्गीय जीवन और दाम्पत्य संबंध: वैवाहिक विडम्बना का संदर्भ**

पूर्वोक्त है कि स्वतंत्रता उपरांत औद्योगिक विकास की प्रक्रिया में, जो तीव्र शहरीकरण होता है, वहाँ द्रुत परिवर्तन देखा जाता है। इसी शहरीकरण की प्रक्रिया में, जो आधुनिकीकरण होता है, वहाँ ‘स्व’ तथा ‘अर्थ’ तत्त्व की प्रधानता हो जाती है। ‘स्व’ तथा ‘अर्थ’ तत्त्व की जीवन में प्रधानता संबंधों, मूल्यों और नैतिकताओं को लेकर एक नए बहस को जन्म देती है। जिसका नतीजा इस रूप में होता है कि परिवार और समाज की संरचना में एक विघटन की प्रक्रिया स्वाभाविक हो जाती

है। एक ओर, सदियों से चला आया पारंपरिक पारिवारिक ढाँचा (संयुक्त परिवार का) बिखरकर पति-पत्नी तक सीमित होने लगता है, तो दूसरी ओर, पति-पत्नी के दाम्पत्य संबंध में तनाव की सृष्टि होती है, जो वैवाहिक जीवन को एक विडम्बना का रूप देती है। इसका प्रमुख कारण पति-पत्नी का अपने-अपने 'स्व' को लेकर अति-सजगता होती है। उनका व्यक्ति स्वातंत्र्य भी होता है। डॉ. अमर सिंह बधान उक्त कारण को कुछ इस प्रकार ज़ाहिर करते हैं—“व्यक्ति स्वातंत्र्य के इस जमाने में हर स्त्री-पुरुष अपने-अपने अस्तित्व के प्रति अतिरिक्त सजग है, अस्तित्व को आत्मसात करने वाली स्थिति से पुरुष किसी भी शर्त पर समझौता नहीं कर पाता है।”<sup>33</sup> यही नहीं, स्वातंत्र्योत्तर नगरीय समाज में स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा, उनसे जुड़े कानूनी अधिकार, तथा उनका आर्थिक स्वावलंबन आदि उन्हें वह सम्बलत्व प्रदान करता है जो उन्हें उनसे जुड़े संबंधों, परंपराओं, आस्थाओं और संस्थाओं को नये सिरे से देखने-सोचने की ओर प्रवृत्त करता है। जिसका स्पष्ट प्रभाव स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य संबंध पर पड़ता है।

स्वातंत्र्योत्तर नगर और कस्बे के जीवन को उज्जीवित करने वाले कहानीकार-चिंतक कमलेश्वर उक्त दाम्पत्य संबंध को बड़ी नजदीकी से देखते हैं। उनका इस संबंध में स्पष्ट कहना होता है—“पति और पत्नी के बीच संबंधों में आमूल परिवर्तन हुआ है नारी अब कानूनी तरीके से भी ज्यादा (पहले) सुरक्षित है और आर्थिक रूप से भी स्वतंत्र सत्ता प्राप्त करती जा रही है। इन दोनों कारणों ने पति-पत्नी संबंधों को ज्यादा बदला है, जिससे विवाह की परंपरागत संस्था के सामने प्रश्न चिन्ह खड़ा हो गया है।”<sup>34</sup> जिससे यह समझ में आता है कि स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री-पुरुष के पारंपरिक दाम्पत्य संबंधों में एक बदलाव या एक तनाव की स्थिति जन्म लेती है। नारी-पुरुष दोनों, अब अपने व्यक्तित्व के अनुरूप अपने तरीके से जीने और जीवन में अपने अस्तित्व को लेकर सजग हो आगे बढ़ने हेतु तत्पर हो उठते हैं। जिसका परिणाम प्रायः वैवाहिक जीवन की विडम्बना होता है। पो. रामचन्द्र माली उक्त संदर्भ को कुछ इस प्रकार प्रकट स्पष्ट करते हैं—“-पति-पत्नी के संबंध काँच के बर्तन के समान हो गए हैं, जो पुराने होने के बाद मैले तथा दरारों से युक्त हैं। समाज में आज पति-पत्नी के संबंध औपचारिकता से मुक्त होकर तनावग्रस्त बन गये हैं। दोनों समझौता करना नहीं चाहते।”<sup>35</sup> जिसका कहने का अभिप्राय यह है कि स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन के दाम्पत्य संबंध पूर्ववत् नहीं रहते हैं। उनमें आया तनाव-बदलाव नई स्थितियों की ओर संकेत करता है।

उल्लेखनीय हैं कि मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय दाम्पत्य संबंधों के उक्त पक्ष को उज्जीवित करने का प्रयास करती हैं, साथ ही साथ यह संकेत भी करती हैं कि स्वातंत्र्योत्तर उभरा और विकसित मध्यवर्ग कहीं-न-कहीं कछुए की भाँति अपनी ही व्यक्तिगत सीमाओं के खोल में अपने को कैद कर लेता है। यहाँ प्रमाण स्वरूप मार्कण्डेय की कहानियों का जिक्र और विश्लेषण किया जा सकता है। इस संदर्भ में उनकी 'दूध और दवा' कहानी का उल्लेख स्वाभाविक लगता है। आलोच्य कहानी में एक मध्यवर्गीय लेखक के परिवार की अभावपूर्ण जीवन स्थितियों को भली-भाँति दर्शाने का प्रयास होता है। प्रस्तुत कहानी में परिवार के भीतर व्याप्त अर्थाभाव संबंधों को जटिल मोड़ पर पहुँचा देता है। जहाँ दाम्पत्य संबंधों में एक प्रकार की उदासीनता की स्थिति निर्मित हो जाती है। इस कहानी का पुरुष अपनी पत्नी से काम संबंधों में अपनी तृप्ति न होते देख, परस्त्री मुखापेक्षी होता है। उसे ऐसा करते वक्त अपने दाम्पत्य संबंध के प्रति अपनी निष्ठा या ईमानदारी की तनिक भी परवाह नहीं रहती है।

अर्थात् मध्यवर्गीय कामातुर पुरुष अपने जीवन में उत्पन्न तनाव और अवसाद से मुक्त होने की प्रचेष्टा में विवाह रूपी सामाजिक संस्था की अवहेलना करता है। जबकि, परिवार के अर्थाभाव में रोज पिसती स्त्री (गृहणी) –“क्या सोच रहे हो? मैंने तो समझा कोई कहानी लिख रहे थे। आज किसी को देकर कुछ रुपये लाते तो अच्छा था। कल दो रुपये का सामान मँगाया था, आज-भर और चलगा”<sup>36</sup>—गृहस्थी को संभालने की जद्दोजहद में अपने जीवन की यौनेच्छा को ही खो देती है। वह अपने दाम्पत्य जीवन के मधुर काम-संबंध से कुछ इस प्रकार विरक्त हो जाती है—“वह बटन बन्द करते-करते बोलने लगती है, “अब इसके सुख की कल्पना मेरे पास नहीं है, न ही तुम्हारे मन में है और अगर है, तो नहीं होनी चाहिए... मेरे सीने में एक बंद ज्वालामुखी है, जो कभी नहीं भड़केगा, यह मैं जानती हूँ।”<sup>37</sup> जिससे यह जाहिर होता है कि स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय दाम्पत्य संबंध में विपरीत परिस्थितियों से उत्पन्न तनाव दंपति के वैवाहिक जीवन को एक विडम्बना का रूप दे देता है। यहाँ इस बात को भी समझा जा सकता है कि, इस विडम्बना के लिए पुरुष का कामातुर मन कहीं-न-कहीं जिम्मेवार होता है।

इसी तरह कहीं, एक स्त्री की अति-महत्त्वाकांक्षा भी दाम्पत्य संबंध को उसकी विडम्बना की ओर ले जाती है। मार्कण्डेय की 'तारो का गुच्छा' कहानी में मध्यवर्गीय जीवन के उक्त सच का अवलोकन किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में एक ऐसी मध्यवर्गीय स्त्री की छवि देखने को

मिलती है जिसके लिए विवाह रूपी सामाजिक संस्था कोई मायने नहीं रखती है। वह विवाह से पहले ही मातृत्व का सुख प्राप्त करने की अति महत्त्वाकांक्षा को लिए हुए जीती है—“रोली को अपनी पिछली रात याद आ गयी... मसीहा की हत्या, प्रार्थना, कुमारी माँ, बच्चा, बच्चों की एक कतार... उसने बच्चे के माथे का चूम लिया और उसे कंधे से सटा लिया।”<sup>38</sup> जिससे यह जाहिर होता है कि रोली जैसी स्त्रियाँ, अपनी शर्तों पर जीवन जीने की इच्छुक होती हैं। इसी कारण विवाह-संस्था या उससे जुड़े मूल्य उसके लिए कोई मायने नहीं रखते हैं। वह अपनी मातृत्व की दुर्निवार इच्छा के आगे किसी भी सामाजिक-नैतिक मान्यताओं के पार जाने से नहीं हिचकती है। यहाँ तक कि, किसी दाम्पत्य संबंध में अनधिकृत प्रवेश करने में भी वह तनिक नहीं हिचकिचाती है—“...उसने कितनी बार सोचा था कि अगर वह मेरे प्रेम को स्वीकार नहीं करेगा, उपेक्षा से मुझे ठुकरा देगा, तो कभी निर्लज्ज हो कर उससे एक बच्चा माँगेगी-गोल-मटोल, प्यारा-प्यारा। और वह देर तक लिहाफ के अँधेरे में अपना मातृत्व खोजती रही। एकदम अनोखा मातृत्व, लाँछन और समाज की प्रतारणा के दुख में डुबा हुआ।”<sup>39</sup> जिससे यह समझा जा सकता है कि कौमार्य अवस्था में रोली (एक स्त्री) की माँ बनने की तीव्र कामना उसके दिलो-दिमाग पर इस कदर हावी होती है कि वह सब जानते हुए भी एक शादीशुदा व्यक्ति से संबंध बनाने हेतु बेचैन रहती है। जबकि दूसरी ओर, पहले से ही विवाहित पुरुष अपने जीवन के तनाव और ऊब से मुक्त होने हेतु भीतर ही भीतर कुंठित रहता है—“... ओह, तुम कितनी असंभव हो मेरे लिए रोली कितनी विचित्र!”<sup>40</sup> जो यह जाहिर करता है कि, मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री-पुरुष के समक्ष विवाह-संस्था कितना अर्थहीन हो जाता है। किसी के लिए विवाह जरूरी ही नहीं प्रतीत होता है तो किसी के लिए एक बाधा।

इसी तरह ‘तारों का गुच्छा’ कहानी की रोली की भाँति एक पत्नी (स्त्री) की माँ बनने की तीव्र इच्छा उसके वैवाहिक जीवन को किस प्रकार असंतुलित कर देती है, उसे मार्कण्डेय की ‘पक्षाघात’ कहानी में देखा जा सकता है। आलोच्य कहानी के दर्शन और रीना, पति-पत्नी होने के बावजूद एक-दूसरे के लिए जैसे अधूरे होते हैं। रीना मातृत्व का सुख प्राप्त करने हेतु व्यथित रहती है तो दर्शन अपनी जिंदगी को अपने तरीके से जीने में व्यस्त। जिसका नतीजा यह होता है कि उनके दाम्पत्य संबंध में तनाव उत्पन्न होता है और उनका वैवाहिक जीवन एक ऊब में परिणत हो जाता है। रीना को जब अपने मातृत्व सुख की इच्छा अपने पति के द्वारा पूरी होते हुए नहीं दिखायी देती है, तब वह सारे सामाजिक मूल्यों और वैवाहिक नैतिकताओं के पार जाने का संकल्प ले लेती

है। वह अपने मातृत्व के सुख को पाने की चाहत में अपने पति के मित्र परेश के साथ अनैतिक संबंध बनाने तथा उसे स्वीकारने में तनिक भी नहीं हिचकती है। उसकी इस स्वीकारोक्ति को निम्न मंतव्य में लक्ष्य किया जा सकता है—“नहीं परेश, अब रहने दो... मुझे कोई डर नहीं परेश! दर्शन बिल्कुल नाराज नहीं होगा। मैं बचपन से यही सोचती हूँ कि माँ बनूँ और किसी बच्चे के साथ खेलूँ। सिर्फ इसी एक इच्छा को मारते-मारते मैं एकदम मर गयी, लेकिन यह आज तक नहीं मरी।”<sup>41</sup> स्पष्ट है कि मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री-पुरुष की अपनी-अपनी सोच और उसके तदनु रूप जीने की ललक, उनका व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा एक-दूसरे को बेहतर ढंग से देखने-जानने और समझने हेतु दिए जाने वाले समय का अभाव, न सिर्फ उनके दाम्पत्य संबंधों में तनाव की सृष्टि करता है, बल्कि उसके वैवाहिक जीवन को एक विडम्बना का रूप देता है।

दरअसल मध्यवर्गीय जीवन की उक्त जीवन शैली उनकी छद्म आधुनिकता वादी सोच का परिणाम होती है, जो उनके व्यक्ति स्वातंत्र्य के प्राबल्य में, उनकी उच्चाकांक्षा में, उनकी तीव्र यौनाकांक्षा में स्पष्ट लक्ष्य की जाती है। यहाँ मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए’ का जिक्र स्वाभाविक प्रतीत होता है, जिसमें चित्रित ग्रामतेर जीवन के संदर्भ में मध्यवर्गीय जीवन की उन सच्चाईयों से अवगत हुआ जा सकता है, जहाँ जीवन में छद्म आधुनिकता का ओढ़ा हुआ रूप वैवाहिक जीवन की विडम्बना को साफ उजागर करता है। आलोच्य कहानी में एक स्त्री की उच्चाकांक्षा, उसका व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा पुरुष का उन्मुक्त यौन जीवन जीने की जिद दोनों के जीवन को विडम्बना का रूप देती है।

प्रस्तुत कहानी की रमोला एक आधुनिक शिक्षित स्त्री है। वह एक ऐसे व्यक्ति में अपना प्रेम ढूँढती है, जो पहले से शादीशुदा और उसके पिता की अवस्था का होता है। जो यह दर्शाता है कि रमोला जैसी स्त्रियाँ जान-बूझ कर अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य को उपलब्ध करने की फिराक में वह सब-कुछ करने में अपने को सहज महसूस करती हैं, जो सामाजिक परंपरा और नैतिकता के दायरे से बाहर होता है। यहाँ तक कि यह जानते हुए भी कि जिस रिश्ते का कोई भविष्य नहीं है, वह दूसरी स्त्री के वैवाहिक जीवन में घुसपैठ करती है। यहाँ रमोला का जो तर्क होता है वह कुछ इस प्रकार होता है—“मैं जब-जब पूँछता हूँ, वह यही कहती है कि उस नीच प्रोफेसर ने मुझे अनेक प्रलोभन दिये। मुझे पुत्री तक माना... और एक दिन अपने घर, रीतिकालीन श्रृंगारिक सूक्तियों का अर्थ समझाते-समझाते मेरा हाथ पकड़ लिया। मुझे खींच कर, अपने पास कर लिया। मैं समझती

थी वह बुरा नहीं हो सकता... क्योंकि प्रोफेसर विवाहित था, लेकिन उसका यह व्यवहार बढ़ता गया। उसने धीरे-धीरे मेरे स्त्री-मन को अपनी प्रेम और स्नेह से छलछलाती हुयी मीठी-मीठी बातों से जकड़ लिया... मैं उसके साथ घूमने जाती और देर तक लौटती। फिर रात तक, उसकी प्रेममय वाणी में उहापोह होकर; उसके बाजुओं में खेलती रहती।<sup>42</sup> यहाँ यह समझा जा सकता है कि स्त्री के रूप में रमोला की महत्त्वाकांक्षा तथा अपने व्यक्ति स्वातंत्र्य को उपलब्ध करने वाली प्रेमाकांक्षा उसे उस पुरुष की ओर ले जाती है जिसके लिए वैवाहिक जीवन, दाम्पत्य संबंध या सामाजिक नैतिक मान्यताएँ कोई मायने नहीं रखती हैं। वह तो स्त्री को एक देह मात्र समझता है, जिसे वह सिर्फ वह भोगना चाहता है। उसके लिए स्त्री एक देह होती है, रमोला भी, जिसे वह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने हेतु किसी भी के समक्ष परोस देने में नहीं हिचकता है। जैसा कि, उक्त कहानी में वह रमोला के साथ करना चाहता है। इस प्रकार यहाँ प्रोफेसर के रूप में शिक्षित मध्यवर्गीय पुरुष की उस उत्कट यौनाकांक्षा को भी देखा जा सकता है, जो वैवाहिक जीवन को एक विडम्बना के रूप में परिणत कर देती है।

इस प्रकार कहा जाय तो मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन के दाम्पत्य संबंधों को भली-भाँति उकेरने का प्रयास करती हैं। उनकी कहानियों में दाम्पत्य संबंधों के चटखने तथा वैवाहिक-जीवन को एक विडम्बना में परिणत होते हुए साफ देखा जाता है। उनकी कहानियाँ मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष के व्यक्ति-स्वातंत्र्य, स्त्री-पुरुष का अपने-अपने तरीके से जीने की तीव्र इच्छा, एक-दूसरे के साथ संवादहीनता, एक-दूसरे के लिए समर्पण करने की त्याग-भावना का अभाव, किसी एक की समझौता न करने की मानसिकता, स्त्री की उच्चाकांक्षा, स्त्री की प्रेमाकांक्षा, पुरुष की उत्कट यौनेच्छा, स्त्री को देह मात्र समझने की पुरुष मानसिकता आदि को मध्यवर्गीय दाम्पत्य संबंधों के चटखने-टूटने तथा वैवाहिक जीवन को विडम्बना का रूप लेने के प्रमुख कारणों के रूप दिखलाती हैं।

### 5.3.5 पूँजीवादी सभ्यता, पितृ-सत्तात्मक सोच और मध्यवर्ग

जैसा कि विदित है कि भारतीय सामाजिक संरचना में एक असमानता बोध सदैव विद्यमान रहा है। सामंतवादी सोच समाज में वर्गों की असमानता को धर्म सम्मत तथा न्याय-संगत करार देने हेतु सदा सचेष्टा रही है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि मनुष्य-मनुष्य में सामाजिक-आर्थिक भेद कायम हो जाता है। अंग्रेजी शासन की उपनिवेशवादी सोच, सिर्फ अपने हित को साधने



के खयाल से इस सामाजिक वर्ग-भेद को निरस्त करने हेतु कभी प्रयास नहीं करती है। अंग्रेजी शासन की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में भी उक्त कार्य को दरकिनार किया जाता है। रमेश उपाध्याय अंग्रेजी शासन की इन धूर्तताओं को कुछ इस प्रकार उजागर करते हैं—“आधुनिकीकरण की सीधा अर्थ था भारत में पूँजीवाद का उदय और पूँजीवाद के विकास के लिए सामंतवाद की समाप्ति, किंतु अंग्रेजों का उद्देश्य भारत को एक औद्योगिकृत समृद्ध पूँजीवाद देश बनाना नहीं था, अपितु अपने औपनिवेशिक शोषण को सुचारु रूप से चलाना था, अतः उन्होंने यहाँ उतना ही विकास किया जितना उनके लिए आवश्यक था।”<sup>43</sup> यही नहीं, स्वाधीनता बाद भारत में स्वशासन की नीतियाँ भी, पूँजीवादी सभ्यता के विकास हेतु जिस सोच को अपनाती है, वह कमोवेश साम्राज्यवादी नीतियों से ही पुष्ट प्रतीत होती है। रमेश उपाध्याय उक्त सच को भी स्पष्ट करते हैं—“...1947 में प्राप्त सवाधीनता के बाद जिस भारतीय शासक वर्ग को सत्ता प्राप्त हुयी उसने भी इसी आधार पर अपने शोषण और दमन की व्यवस्था को जारी रखा। होना तो यह चाहिए था कि स्वतंत्र भारत का पूँजीपति वर्ग देश के त्वरित आधुनिकीकरण के लिए एक ओर साम्राज्यवाद की अधीनता से मुक्त होता और दूसरी ओर सामंतवाद के पिछड़ेपन को समाप्त करता, परंतु हुआ यह कि अपने विकास के लिए पूँजी तथा आधुनिक सहायता प्राप्त करने के लिए उसने साम्राज्यवाद की परोक्ष अधीनता स्वीकार की और भारतीय जनता के शोषण तथा दमन को पूर्ववत् जारी रखने के लिए अंग्रेजों की ही भाँति देश के सामंतवाद से समझौता कर लिया।”<sup>44</sup>

यहाँ उक्त दोनों उद्धरणों से जो बातें निकल कर आती हैं, उन्हें कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है। पहली, सदियों से भारतीय परिवेश और समाज में सामाजिक-आर्थिक विषमता का सच बना रहता है जिसे उपनिवेशवादी सोच बरकरार रखती है तथा जिसे स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियाँ निरस्त करने में असफल रहती हैं। दूसरी, स्पष्टतः भारतीय परिवेश में जिस पूँजीवाद का विकास होता है, उसका सामंतवाद से गहरा संबंध बना रहता है। तीसरी, भारतीय परिवेश में स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों के अंतर्गत जिस पूँजीवादी समाज का निर्माण और विकास होता है, वह सामंतीवादी पितृ-सत्तात्मक समेत कई अन्य प्रतिगामी मूल्यों को आत्मसात् किए हुए रहता है। चौथी, हमारे यहाँ का पूँजीवाद समाज को विभिन्न श्रेणियों में बँटे रहने की स्थिति को बढ़ावा देता हुआ सिर्फ अपने हित साधने में व्यस्त रहता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पूँजीवादी समाज भरसक यह प्रयास करता है कि समाज

का क्रांतिकारी मध्यवर्ग निम्नवर्ग से अपने को अलग समझता हुआ हमारे हितों को साधने तथा उन्हें अक्षुण्ण रखने में प्रयत्नशील रहे। पूँजीवादी समाज का हरदम यह प्रयास रहता है कि सामाजिक संघर्ष और परिवर्तन करने में सक्षम मध्यवर्ग अपने इस पक्ष से विरत बना रहे। जबकि, दूसरी ओर मध्यवर्ग भी अपने हित को पूँजीवादी विकास में ढूँढने का प्रयास करता है, जहाँ उसे निराशा मिलती है। जिसका परिणाम इस रूप में होता है कि उसका व्यक्तित्व कुंठा का शिकार होता है। उसकी कुंठा को उसकी पितृसत्तात्मक सोच उसे अपने ही खोल में कैद किए रहती है। फलतः जिससे समाज में वर्ग-संघर्ष और परिवर्तन की स्थितियों के बनने के बजाय यथास्थितिवाद को ही बढ़ावा मिलता है। कहने की बात नहीं है कि, स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग के साथ भी उक्त स्थितियाँ होती हैं।

मार्कण्डेय अपनी ग्रामेतर जीवन की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन-बोध और यथार्थ को उकेरने के क्रम में स्वातंत्र्योत्तर उक्त सच्चाई को भी उज्जीवित करने का प्रयास करते हैं। यहाँ प्रमाणस्वरूप उनकी कहानी 'प्रिया सैनी' का जिक्र किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में पूँजीवादी सभ्यता की सोच को बेपर्दा करने के साथ-साथ मध्यवर्ग से जुड़ी सच्चाई को दिखाने का प्रयास मिलता है। यह कहानी यह स्पष्ट दर्शाती है कि पूँजीवादी सोच किसी भी मूल्य, आदर्श, नैतिकता और मान्यता आदि या इनसे समन्वित जीवन-बोध की परवाह नहीं करती है। उसके लिए ये सब एक वस्तु-मात्र है जिससे अपना हित सधता है तो ठीक है, अन्यथा ये सभी त्याज्य हैं। उसके समक्ष कोई जीवंत नारी (मनुष्य) हो या कोई कलावादी मूल्य; सभी वस्तुतुल्य है। आलोच्य कहानी में मार्कण्डेय उक्त सच्चाई को एक पैने व्यंग्य से सन्निहित कर व्यक्त करते हैं—“ पिता बचपन से ही बताया करते थे कि पैसे वाले एक जगह पहुँच कर समाज के सारे मूल्यों को चकनाचूर कर देते हैं और हर चीज का यहा तक कि मनुष्य के मन का भी दाम लगा देते हैं।”<sup>45</sup> इस कहानी की प्रिया (नारी) भी स्वयं के प्रति पूँजीवादी समाज की सोच को बखूबी समझती है —“ मैं तो बस एक वस्तु मानी गयी हूँ... मुझे वे देश-देशान्तर में विख्यात करके नारी-जाति का गौरव बढ़ाना चाहते हैं और मुझे दिखा देना चाहते हैं कि भारतीय नृत्य में कितनी क्षमता है। मैं विदेशों में सम्मानित हूँगी और सेठ जी मेरे साथ अमेरिका-लन्दन की यात्रा करेंगे।...”<sup>46</sup> जिससे मार्कण्डेय की उस यथार्थ-दृष्टि को समझा जा सकता है, जो यह संकेत करती है कि पूँजीवादी चेहरा केवल मुनाफाखोरी तथा अकेले स्वयं को समृद्ध करने की बलवती इच्छा से प्रेरित-प्रचालित रहता है। किंतु, यह चेहरा तब और विद्वेष हो जाता है, जब वह किसी समाज-राष्ट्र के संस्कृति-मूल्य को

अपने बाजारवादी मूल्यों को पुष्ट करने हेतु इस्तेमाल करता है। तब यह चेहरा आलोच्य कहानी के 'सेठ घिनावन' की तरह विद्रूप हो जाता है। इस कहानी में मार्कण्डेय की यथार्थ-दृष्टि भली-भाँति यह दिखाने की चेष्टा करती है कि प्रिया (स्त्री) की नृत्य कला(कलापरक मूल्य) की मार्केटिंग (व्यवसायीकरण) करना पूँजीवादी शक्तियों-चेहरों का 'कला के स्वायत्त मूल्य' की आड़ में सिर्फ अपने हितों को साधना होता है—“हाँ, इतना तो मेरे सामने आ ही गया है कि ट्रस्टियों तथा नगरों के सारे धनिक लोगों को यह नृत्य नाटिका दिखायी जाएगी और इसके लिए बड़े पैमाने पर विज्ञापन तथा दान के रूप में धन एकत्र किया जाएगा। सेठ जी का अनुमान है दस लाख रुपये सिर्फ एक-प्रदर्शन में इक्ठ्ठा करे लेंगे।”<sup>47</sup>

दरअसल सच्चाई यह होती है कि पूँजीवादी सभ्यता और सोच वर्गों में विभक्त, शोषण मूलक समाज-व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने की चाहत लिए हुए सदैव रहती है। इस कारण भी वह अपने खिलाफ समवेत हो जाने वाले निम्न और मध्यवर्ग के बीच दूरियाँ उत्पन्न किए रखने में ही अपनी सलामती देखती है। कहने का जरूरत नहीं है कि पूँजीवादी सभ्यता-सोच के उक्त दुश्चक्र का शिकार सर्वप्रथम और सबसे अधिक मध्यवर्ग ही होता है। आलोच्य कहानी 'प्रियासैनी' में भी इस सच को देखा जाता है। प्रस्तुत कहानी की प्रिया का प्रेमी एक मध्यवर्गीय चरित्र (व्यक्ति) है, जो स्वयं को समाज के निम्न वर्ग (सर्वहारा वर्ग) से अलग और श्रेष्ठ समझने के दंभ से ग्रस्त रहता है। वह इस सच को स्वीकार न कर पाने की स्थिति में होता है कि प्रिया के अतीत का प्रेमी किसी ऐसे वर्ग (निम्न वर्ग) से आता है, जिसे वह हेय समझता है। उसकी निम्नवर्ग से होने वाली घृणा उसे एक कुंठित व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है। जिसे इस रूप में देखा जा सकता है—“वह रात भर आपके कमरे में रहा न ! कोई सड़ा हुआ, अपराधी मज़दूर रहा होगा, जिसके लिए आपने अपनी अनुभूति का सारा खजाना ही खाली कर दिया। अब समझ में आया आपका नाटक। ऐसा भी तो हो सकता है कि वह आपका पुराना दोस्त रहा हो।”<sup>48</sup> यहाँ एक पुरुष की ईर्ष्या के साथ-साथ एक कुंठित मध्यवर्गीय व्यक्ति का स्वभावगत दंभ भी उजागर होता है। यही नहीं, यहाँ एक मध्यवर्गीय चरित्र के भीतर का पितृसत्तात्मक अहंकार और संस्कार भी फुँफकारता नज़र आता है। जिसे पूँजीवादी सभ्यता-सोच और शक्तियाँ बल प्रदान करती हैं, क्योंकि उसे दोनों (मध्यवर्ग-निम्नवर्ग) की एकजुटता से भय रहता है। वास्तविकता में, पूँजीवादी सभ्यता और सोच दर्शन, कला और साहित्य के मूल्यों को न कभी महत्व देती है और ना ही उन्हें संरक्षित करने का प्रयास करती

है। यदि करती भी है तो, उस पर अपना बाजरवादी उपयोगिता वादी मूल्य चँस्पा कर करती है। आलोच्य कहानी में भी प्रिया की नृत्य-कला के साथ पूँजीवादी शक्तियाँ कुछ ऐसा ही व्यवहार करती हैं। उनके लिए प्रिया की नृत्य-कला या उसकी प्रतिभा उनके आय का एक जरिया मात्र है, साथ ही साथ इसके बहाने वे अपना चक्षु-भोज करते हैं। प्रिया के नृत्य की आड़ में उसकी अनावृत देह का भोज—“कमाल है, सेठ जी! क्या चीज है। क्या लोच है! बस जरा-सा कसर है, कपड़े या तो और झीने कर दिए जाएँ या सीक्वेन्स में कहीं से बरसात लाकर भिगो दिया जाए।”<sup>49</sup> जिससे कई बातें जाहिर होती हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं। पहली, यहाँ पूँजीवादी सोच के साथ सामंती संस्कार-पितृसत्तात्मक मानसिकता का सहमेल अस्तित्व जाहिर होता है, जो स्त्री को देह मात्र ही समझता है। यही पितृसत्तात्मक सोच प्रिया के प्रेमी पर हावी रहता है। वह भी प्रिया को अपनी सम्पत्ति समझता है, जिसकी देह का वह एकछत्र मालिक (पूँजीपति) बनना चाहता है। वह प्रिया के जीवन की उस रात को लेकर हरदम संशयग्रस्त रहता है और इस कारण कुंठाग्रस्त भी, जिस रात एक मजदूर (सर्वहारा वर्ग) भागता हुआ, उसकी छत्ती पर आता है। जिससे उसका पितृसत्तात्मक संस्कार मर्दित और कुंठित होता है।

प्रिया उसके इस मानसिक अतंर्द्वन्द्व को कुछ इस प्रकार व्यक्त करती हैं—“मुझे अच्छी तरह याद है, जब तुम्हारे लगातार कोचने, सिर पटकने, दिनों खाना न खाने से ऊबकर मैंने यह मान लिया कि वह आदमी रात भर मेरी छत्ती में रह गया था तो तुम कितने उद्विग्न हो उठे थे और अपनी कमीज़ नॉच कर फेंक दी थी। सब्जी काटने का चाकू मेरे सीने में चुभोने जा रहे थे। मैंने तुम्हारी मनः स्थिति समझ ली थी। तुम अपनी प्रिया को अछूती, कमल की तरह प्रस्फूटित ऐसी कली के रूप में ही स्वीकार कर सकते थे जिसे सूर्य तक ने स्पर्श न किया हो। तुम्हारी सारी प्रकृति और अहम् इस बात से चोट खाये हुए सर्प की तरह तड़प रहे थे कि एक अपरिचित, जाने कौन और कैसा व्यक्ति मेरी छत्ती पर रात भर कैसे रह गया।”<sup>50</sup> जिससे यह समझा जा सकता है कि प्रिया का प्रेमी (मध्यवर्गीय पुरुष) प्रिया(स्त्री) के मन में उसके प्रति सहेजे एकनिष्ठ प्रेम को न देखकर केवल उसकी देह को देखता है और यह आश्वस्त होने के लिए तड़पता है कि उस देह को उसके पहले किसी और ने नहीं भोगा है। अर्थात् उसके लिए प्रिया का सम्पूर्ण अस्तित्व केवल उसकी निष्कलुष देह है।

इसी तरह मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘आदर्शों का नायक’ में भी मध्यवर्गीय जीवन

में समाये पितृसत्तात्मक संस्कार को लक्ष्य किया जाता है। आलोच्य कहानी के जोगेन्द्र सिंह एक उच्च अधिकारी हैं, जो मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी औरत (स्त्री) की परिभाषा में रूपवान स्त्री ही केवल औरत होती है—“औरत अगर सुन्दर ही नहीं हुई तो औरत क्या?”<sup>51</sup> यही नहीं, सुन्दर औरत का अर्थ सुन्दर देह-यष्टि वाली स्त्री, जो पुरुष की अंधी वासना को तृप्त करने तथा उसकी प्रतिशोध परक प्रतिहिंसा के लिए उपयुक्त है। प्रस्तुत कहानी का जोगेन्द्र सिंह अपने प्रतिशोध हेतु अपनी कुंठित वासना को शांत करने हेतु माया (एक स्त्री) को चुनता है, क्योंकि उस जैसे पुरुष के लिए स्त्री की देह एक आसान लक्ष्य है—“मेरे मन में तो माया के शरीर की चाह थी। ऊपर से जब उस अधिकारी ने मेरा इतना अपमान किया तो एक जलती हुयी ईर्ष्या और प्रतिशोध की भावना ने शरीर की भूख को मेरे लिए पशु से भी बदतर बना दिया था।...”<sup>52</sup> यहाँ पितृसत्तात्मक संस्कार भली-भाँति जाहिर होता है, जो मध्यवर्ग के पुरुष अंकार को जागृत किए रहता है तथा स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व या उसकी देह के अलावा भी एक पहचान होने को नहीं समझने देता है।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ के अंतर्गत स्वातंत्र्योत्तर पूँजीवादी सभ्यता और सोच के उस चेहरे को भी बेपर्द करने में सक्षम होती हैं, जो सामंतवादी पतनशील संस्कारों को आत्मसात् कर चलती है तथा मध्यवर्ग के अंदर की कुंठाओं, घृणाओं को जागृत कर अपने हितों को अक्षुण्ण रखने का उपक्रम करती है।

अतः इस प्रकार, समग्रता में मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ तथा उनमें उज्जीवित मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ को देखा जाए तो निम्न बातें कही जा सकती हैं। मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ उनकी यथार्थ-दृष्टि की सम्पूर्णता को प्रतिकित करती हैं। उनकी ग्रामेतर जीवन की कहानियों में चित्रित मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ को समझने के पूर्व इस तथ्य को समझ लेना अति आवश्यक होता है कि स्वातंत्र्योत्तर त्वरित गति से उभरता और विकसित पूँजीवाद अंधा होता है। इस कारण यह पूँजीवाद सिर्फ अपने हित साधने में व्यस्त रहता है। यह शोषण पर आधारित वर्गों में बँटे समाज के बीच हर संभव प्रयत्न करता है कि सामाजिक आर्थिक-विषमता यथावत् ही न रहे, बल्कि उससे भी ज्यादा गहरी हो जाए। वह इसलिए मध्यवर्ग को अपने हित में संलग्न रखने का प्रयास करता है, जबकि दूसरी ओर मध्यवर्ग पूँजीवादी विकास में अपने हित को खोजता है, जहाँ उसे निराशा मिलती है। फलतः मध्यवर्ग अपनी ही सीमाओं-समस्याओं और कुंठाओं में कैद होता जाता है। मार्कण्डेय की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर

मध्यवर्ग के उक्त जीवन को ही उकेरने का प्रयास करती हैं। इस कारण उनकी कहानियों में उज्जीवित मध्यवर्ग की सामाजिक निस्संगता को देखा जाता है। यह वर्ग व्यक्तित्व के दोहरेपन का ओढ़ कर जीता हुआ सच्चाई को सहज रूप में स्वीकार करने से घबराता है। उसका जीवन के प्रति रोमांटिक एप्रोच उसे वस्तुस्थिति से दूर ले जाता है। वह सामाजिक जीवन के प्रश्नों से कतराता है और दायित्व लेने से बचता है। उसके भीतर बैठा कायरता बोध स्त्री के प्रति उसके रवैये के समय उजागर होता है। उसका व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार जीने की जिद उसके दाम्पत्य जीवन को एक वैवाहिक विडम्बना का रूप देते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों की समझौता न करने की स्थितियाँ भी जिम्मेवार होती हैं। मध्यवर्गीय पुरुष का उन्मुक्त यौनाचार भी उसके वैवाहिक जीवन को विडम्बनात्मक स्थिति की ओर मोड़ता है। यही नहीं, मध्यवर्गीय स्त्री की उच्चाकांक्षा एवं प्रेमाकांक्षा भी उसके दाम्पत्य संबंधों में तनाव पैदा करती है। स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग पूँजीवादी सभ्यता और सोच में अंतर्व्याप्त सामंतीवादी अपसंस्कारों को समझते हुए चुप बना रहता है। जबकि, पूँजीवादी सोच और शक्तियाँ मध्यवर्ग के भीतर प्रलोभन पैदा करने के साथ-साथ उसके पितृसत्तात्मक संस्कारों (सामंती अपसंस्कारों) को जागृत रख अपने हित साधती हैं। मध्यवर्गीय पुरुष अपने अंहकार में डूबा हुआ स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व या देह के अलावा भी उसके अलग व्यक्तित्व के होने को स्वीकार नहीं पाता है और उसी छटपटाहट की कुंठा में स्वयं को कैद किए रखता है।

मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन की सीमाओं को रेखांकित करती हैं तथा उसी में अपना सारा श्रम खर्च करती हैं। ये कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन बोध में व्याप्त उसकी सीमाओं को सामाजिक -आर्थिक प्रश्नों की संश्लिष्टता में प्रस्तुत करने के बजाय उसका एकांतिक चित्रण करती हैं। बेशक उनकी कुछेक कहानियाँ ('दूध का दवा', 'अगली कहानी' आदि) मध्यवर्ग के सामाजिक -आर्थिक प्रश्नों का संकेत अवश्य करती हैं पर उसे संश्लिष्ट रूप में नहीं उभारती हैं। उनकी कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन-बोध में व्याप्त सीमाओं का यथार्थ उसके क्रांतिकारी पक्ष को उभारने में दिलचस्पी नहीं लेता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की ग्रामेतर जीवन की कहानियों में उज्जीवित मध्यवर्गीय जीवन बोध और यथार्थ स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्ग के सीमित सच को ही चित्रित करने का प्रयास करता है।

## संदर्भ-सूची

1. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, ईशान प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं. :1978, पृ. 25
2. अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन, 1-वी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली, प्र. सं.:1973, पृ. 139
3. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.:2002, भूमिका ('भूदान'), पृ. 250
4. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय:परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स इलाहाबाद, प्र. सं.: 2010, पृ.155 (विद्याधर शुक्ल का लेख-'खेतिहर मजदूरों के कहानीकार: मार्कण्डेय')
5. मधुरेश, नयी कहानी: पुनर्विचार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्र. सं.: 1999, पृ.166
6. साभार, 'हंस', अगस्त, 2006, पृ.9
7. वही, पृ. 128
8. उद्धृत, कुमार, डॉ. राजेन्द्र , स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा-साहित्य में ग्राम्य जीवन और संस्कृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. सं.: 1988, पृ. 25
9. वाजपेयी, आचार्य नंददुलारे, आधुनिक हिंदी साहित्य, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण: 2018 वि. पृ. 156
10. वर्मा, धीरेन्द्र (संपादक), हिंदी साहित्य कोश-भाग-1, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण: 1985, पृ. 564
11. माली, पो. रामचन्द्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थबोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 1997, पृ. 95
12. उद्धृत, माली, पो. रामचंद्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थबोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 1997 पृ. 42
13. उपरिवत् , पृ. 81
14. उपरिवत् , पृ. 81
15. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 465
16. उपरिवत् , पृ. 467
17. उपरिवत् , पृ. 464

18. उपरिवत् , पृ. 469
19. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय:परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स इलाहाबाद, प्र. सं.: 2010, पृ.88-89
20. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 418-419
21. उपरिवत् , पृ. 418
22. उपरिवत् , पृ. 419
23. उपरिवत् , पृ. 333-334
24. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ.370
25. उपरिवत् , पृ. 368-369
26. उपरिवत् , पृ. 15-16
27. चौहान, डॉ. वी.पी., रामदरश मिश्र के कथा साहित्य में ग्राम्य जीवन, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.: 2004, पृ. 72
28. प्रियदर्शिनी, डॉ. सुषमा (संपादक), हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं.: 1983, पृ. 59
29. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.: 2002, पृ. 126
30. उपरिवत् , पृ. 128
31. उपरिवत् , पृ. 343
32. उपरिवत् , पृ. 342
33. उद्धृत, माली, प्रो. रामचन्द्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थ बोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.:1997, पृ. 48
34. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, ईशान प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. सं.:1970, पृ. 133
35. माली, प्रो. रामचंद्र, श्रीकांत वर्मा की कहानियों में यथार्थ बोध, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.:1997, पृ. 61
36. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.:2002, पृ. 330



37. उपरिवत् , पृ. 327
38. उपरिवत् , पृ. 366
39. उपरिवत्, पृ. 361
40. उपरिवत् , पृ. 367
41. उपरिवत् , पृ. 388
42. उपरिवत्, पृ. 81
43. उपाध्याय, रमेश, कहानी की समाज शास्त्रीय समीक्षा, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली प्र. सं.: 1999, पृ. 110
44. उपरिवत् , पृ. 110
45. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र. सं.:2002, पृ. 524
46. उपरिवत्, पृ. 524
47. उपरिवत् , पृ. 521
48. उपरिवत्, पृ. 529
49. उपरिवत्, पृ. 521
50. उपरिवत्, पृ. 532
51. उपरिवत्, पृ. 370
52. उपरिवत्, पृ. 379